स्वतंत्रता से पूर्व भारत में न्यायिक संरचना का विकास

डा0 ज्योत्स्ना गौतम,

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, नवयुग कन्या महाविद्यालय, लखनऊ उ0प्र0

शोध सारांश

न्याय की प्ररम्भिक अवधारणा की उत्पत्ति दुर्बल के रक्षार्थ हुई। नागरिक समाज की स्थापना के पश्चात प्रत्येक काल में शासन का लक्ष्य न्याय की स्थापना रहा है। प्रत्येक शासन युग में देश काल परिस्थिति, आवश्यकता के अनुसार जनमानस को न्याय प्रदान करने के लिए एक न्यायिक व्यवस्था की संरचना की स्थापना की जाती है। प्रस्तुत लेख में भारत में प्राचीन काल, मध्य काल एवं उपनिवेश काल में न्यायिक व्यवस्था की संरचना पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है, जो कि हमारी वर्तमान न्यायिक व्यवस्था का आधार है।

मुख्य शब्द – *न्याय, न्यायपालिका, न्यायालय, प्रशासन, क्षेत्राधिकार*

किसी भी सभ्य नागरिक समाज की संकल्पना न्याय के बिना असम्भव है। न्याय वह प्रकिया है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को वह प्राप्त होना चाहिये जिसका वह पात्र है। न्याय प्रकिया को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए, परिभाषित कानून और संगठित न्यायालय की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय में प्रचलित कानून और न्यायिक प्रशासन के संगठन ने प्राचीन समय से विभिन्न प्रयोगों और नियोजन के पश्चात वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया है। प्राचीन काल में न्याय प्रशासन राजा द्वारा सम्पादित नही होता था,पीड़ित पक्ष न्याय प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रयत्न करता था, इसके लिए वह न्याय के उल्लघंनकर्ता के निवास के सम्मुख धरना कर न्याय पाने की चेष्टा करता था यदि वह स्वयं अक्षम है तो इसके लिए वह अपने मित्रों एवं सम्बन्धियों की भी सहायता ले सकता था। प्राचीन इग्लैण्ड, आयरलैण्ड एवं भारत में न्याय प्राप्ति की यह प्रथा प्रचलित थी। सम्भवतः इसी कारण प्रारम्भिक वैदिक काल में न्यायिक प्रशासन की कोई औपचारिक व्यवस्था का उल्लेख नही मिलता है।

उत्तर वैदिक काल में न्यायाधीश का उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, कात्यायन, नारदपुराण, यज्ञवाल्क्य स्मृति आदि में न्याय व्यवस्था के संगठनात्मक एवं कार्यात्मक ढांचे का उल्लेख है जिसके द्वारा प्राचीन भारतीय समाज में न्याय व्यवस्था संचालित होती थी। धर्म सूत्र और अर्थशास्त्र के अनुसार न्याय पालिका तत्कालीन समय में पूर्णतः विकसित थी एवं राजा न्याय का सर्वोच्च स्रोत था, अपराधी को दण्ड़ित करना उसका प्रथम कर्त्तव्य था जो राजा इससे दूर रहता था, वह नरक का भागी होता था। सैद्धान्तिक रूप से राजा के सम्मुख सभी विषय लाये जा सकते थे, लेकिन व्यवहारिक रूप से वह महत्वपूर्ण विषय ही सुनता था राजा की न्याय कार्य मे सहायता के लिए विवाक, गमक ,ददाधिक व धर्माचार्य जैसे पदाधिकारी होते थे। सम्पूर्ण राज्य को न्याय के दृष्टिकोण से प्रान्तो, जनपदों, स्थानिक, द्रोणमुख, खरवाटिक और ग्रामों में विभाजित किया जाता था। ग्राम्य स्तर पर न्याय व्यवस्था न्याय पंचायत के हाथ में हाती थी जहॉ 'विवादिन' नामक पदाधिकारी ग्राम के सभी प्रमुख व्यक्तियों की सहमति से स्थानीय नियमों के

अनुसार न्याय प्रदान करता था। मनुस्मृति, अपस्तभ्यसूत्र, बोधायन् वशिष्ट, नारद पुराण, बृहस्पति ने तत्कालीन न्याय प्रणाणी का उल्लेख किया है।

राजाओं और न्यायाधीशों को न्याय प्रदान करने में कनिष्ठ न्यायाधीश मन्त्रीगण,व्यापारिक समितियों के प्रधान सहायता करते थे, तत्कालीन ग्रन्थों में न्यायिक संस्था के सन्दर्भ में साक्ष्य, गवाह, वकील, जूरी व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है, जो कि सर्वोच्च न्यायपालिका में कार्यरत होते थे और क्षेत्रीय न्यायालयों में भी न्याय प्रदान करते थे। प्रान्तीय स्तर पर धर्माधिकर्ता के न्यायालय होते थे जिनकी तुलना वर्तमान उच्च न्यायालय से की जा सकती है, धर्माध्यक्ष का कार्य कानून के अनुसार न्याय प्रदान करना था। अमात्य साक्ष्य के आधार पर जूरी की सहायता से न्याय प्रदान करते थे। प्रदेष्ठा वर्तमान जनपदीय न्यायाधीश के समान थे जो जूरी व साक्ष्य दोनों के आधार पर न्याय प्रदान करते थे। कौटिल्य धर्मस्थ न्यायालयों का उल्लेख जनपद सन्धि, राज्य की सीमाओं पर स्थित नगरों व संग्रहणों की संधि पर स्थित न्यायालयों के अध्यक्ष के रूप में करता है। यह न्यायालय न्यायाधीश विवाद, सम्पत्ति, स्त्रियों के प्रति क्रूरता, आपसी वैमनस्य, पति के घर से स्त्रियों के लुप्त हो जाने, सम्पत्ति के बँटवारे, कर्ज न चुकाने आदि अपराधों के सन्दर्भ में निर्णय देते थे। इस न्यायपालिका के संगठन के अतिरिक्त पुर, श्रेणी, कुल आदि के स्तर पर अन्य न्यायपालिकाएं विद्यमान थी जो जाति विशेष, ग्राम व परिवार की प्रथाओं, परम्पराओं के अनुसार न्याय करती थी। प्राचीन काल में न्याय का उद्देश्य स्थापित प्रथाओं, परम्पराओं के अनुसार जनसाधारण को शीघ्र व निशुल्क न्याय प्रदान करना होता था। प्रथाओं, परम्पराओं में वैधनिक जटिलता नही थी। यह स्थिति आज की न्यायिक व्यवस्था में नही है।

प्राचीन काल में स्थानीय न्यायपालिकाओं में न्यायिक कार्यवाही शोधक नाम पदाधिकारी द्वारा वादी को बुलाकर प्रारम्भ होती थी। न्यायाधीश के साथ श्रेष्ठी व कायस्थ न्यायिक प्रक्रिया प्रारम्भ करते थे। न्यायाधीश की अनुमति उपरान्त वादी विषय प्रस्तुत करता था, जिसे कायस्थ लिखता था। सैद्धन्तिक रूप से तब तक कोई वाद स्वीकार नही किया जा सकता था, जब तक पूर्व वाद निर्णित न हो जाये। इस प्रक्रिया में प्रतिज्ञा क्रिया, उत्तर क्रिया और निर्णय प्रमुख भाग होते थे। साक्ष्य, गवाह, दैवीय साक्ष्य के आधार पर न्याय प्रदान किया जाता था। गुप्तकाल में ब्राहमण वकीलों का पजन हो चुका था। न्याय की यह व्यवस्था मध्ययुगीन हिन्दू राज्यों में यथावत संचालित रही। प्राचीनकाल में न्यायपालिका को धर्मस्थान के नाम से जाना जाता था।

मध्य युग में मुस्लिम आक्रन्ताओं के द्वारा केन्द्रित न्याय व्यवस्था को जन्म दिया गया। सल्तनत काल में न्याय व्यवस्था इस्लाम के कानूनों पर आधरित थी। सुल्तान न्याय का स्रोत था, उसके न्यायिक कार्य सहायतार्थ काजी उलकुजात एवं काजीनाम के न्यायिक पदाधिकारी होते थे, जिनकी नियुक्ति सुल्तान द्वारा की जाती थी, दीवानी और फौजदरी के सभी मामले उनके अधिकार क्षेत्र में आते थे, प्रान्तीय काजियों और प्रान्तीय गर्वनरो के अपीलीय मामले भी उनके क्षेत्राधिकारी के अन्तर्गत थे। वादी और प्रतिवादी के विचारों को साक्ष्य तथा गवाही के आधार पर जानकार कुरान की मान्यताओं के आधार पर न्याय प्रदान किया जाता था। किन्तु राजनीतिक अपराधों में यह पद्धति नही अपनायी जाती थी। मुफ्ती कानून का मूल्याकनकर्ता था जिसकी नियुक्ति सुल्तान द्वारा काजी–उल–कुजात की सलाह से की जाती थी। कानून की व्यवस्था के सम्बन्ध में मुफ्ती और न्यायाधीश के बीच मतभेद होने पर मामला सुल्तान के समक्ष लाया जाता था। प्रान्तों में चार प्रकर के न्यायालय थे, सूबेदार या गर्वनर का न्यायालय, काजी–ए–सूबा का

न्यायालय दीवान–ए–सूबा एवं सद्रे–सूबा का न्यायालय।

प्रान्तीय गवर्नर के न्यायालय का प्रान्त में सबसे व्यापक क्षेत्राधिकार था, तत्पश्चात काजी–ए–सूबा का स्थान था, जिसकी नियुक्ति सुल्तान द्वारा काजी–उल–कुजात की सिफारिश पर की जाती थी। दीवानी एवं फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों की प्रारम्भिक एवं अपीलीय क्षेत्राधिकार उसके पास था, लेकिन राजस्व सम्बन्धी मामले उसके क्षेत्राधिकार में नही आते थे, यह मामले प्रान्तीय दीवान के पास जाते थे। काजी–ए–सूबा प्रान्त के सभी परगना काजियों की नियुक्ति के लिए सिफारिश करता था वह अपनी कार्यकुशलता के आधार पर काजी उल–कजात के पद पर पदोन्नति प्राप्त कर सकता था। दीवान–ए–सूबा के न्यायालय की अध्यक्षता प्रान्तीय दीवान करता था जिसके क्षेत्राधिकार में केवल भूमि एवं राजस्व सम्बन्धी मामले आते थे। इसके निर्णयों के विरूद्ध अपील गर्वनर या सुल्तान से की जा सकती थी। सद्रे सूबा के न्यायालय का क्षेत्राधिकार भी सीमित था प्रान्त के उपविभाग में न्यायपालिका का संगठन साधारण था इसमें काजी, फौजदार, आमिल, कौतवाल और गांव पंच शामिल थे।

मुगल काल में न्याय व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन नही किया गया, इस काल में इस्लामी कानून के क्षेत्र को सीमित कर देश में सामान्य एवं प्रचलित कानून को बढावा दिया गया। सम्राट न्याय का स्रोत था, जो अपील की सर्वोच्च अदालत भी थी। तत्पश्चात प्रधान काली की अदालत होती थी। काजी कुरान के कानून के अनुसार राजधानी में मुकदमों की सुनवाई करता था, उसके क्षेत्राधिकार में अपीलीय के साथ प्रारम्भिक मामले भी आते थे। प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक प्रान्तीय काजी रहता था मुसलमान बाहुल्य बड़े गॉव में भी काजी की नियुक्ति होती थी। इस कारण गांव कस्बों एवं नगरों के मुकदमों का निर्णय अधिकाशतः पंचायतों द्वारा ही किया जाता था।

मुगल शासनकाल में तीन प्रकार के अदालती विभाग थे। प्रथम धार्मिक कानून की अदालतें – प्रारम्भ में तो काजी ही दीवानी और फौजदारी के सब मुकदमों की सुनवाई करते थे। मुगलकाल में यह प्रथा बन्द कर दी गई, और काजी केवल धार्मिक मुकदमों का निर्णय कुरान की आयतों के अनुसार करने लगा। काजी अपने पूववर्ती काजियों और मुफ्तियों की व्याख्या तथा नजीरों को मानने के लिए बाध्य था। मुफ्ती की मौलिक उपाधि वकीले शूरा अर्थात कानून विशारद की थी। यह वर्तमान के एडवोकेट जनरल के समकक्ष पद था काजी का कार्य वक्फ तथा अनाथ एवं दीन अपहिजों के लिए प्रदान की गई रियायतों का भी प्रबन्ध करना होता था। जिन मुस्लिम स्त्रियों के सम्बन्धी नही होते थे, उनके मेहर भी काजी ही तैयार करता था। काजी के न्यायालय में गैर मुसलमानों की गवाही मान्य नही थी।

द्वितीय सार्वजनिक न्यायालयों में न्यायाधीश काजी के अधीन नही थे, वे शरीयत अथवा कुरान के कानून के अनुसार न्याय न करके प्रचलित रीति रिवाजों के अनुसार न्याय करते थे।

तृतीय राजनीतिक न्यायालय में विद्रोह, गबन, सिक्कों में मिलावट, दंगें, चोरी, ड़कैती, राज्य पदाधिकारियों की हत्याएं इत्यादि के मुकदमों का निर्णण सम्राट अथवा उसके प्रतिरिधि, प्रान्तीय राज्यपाल, फौजदार या कोतवाल द्वारा किया जाता था। राज्य की आवश्यकता के आधार पर निर्णय किये जाते थे।

मराठा और राजपूत शासकों द्वारा हिन्दू और मुस्लिम न्याय व्यवस्था का सम्मिलित प्रयोग किया गया, किन्तु अंग्रेजो के आने के पश्चात न केवल इन प्राचीन संस्थाओं को नष्ट कर दिया गया, अपितु नवीन प्रणाली को भी जन्म दिया।

ब्रिटिश न्याय व्यवस्था का भारत में प्रारम्भ 1639 में मद्रास में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से होती है। वह विवादों पर निर्णय ब्रिटिश प्रथाओं व परम्पराओं के अनुसार करती थी। सन् 1644 में न्यायालयों का प्रादुर्भाव हुआ। सन् 1693 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एडमिरलटी न्यायालय की स्थापना गैर कानूनी व्यापार को प्रातिबंन्धित करने के लिए की। सन् 1689 में मद्रास प्रेसीडेन्सी में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के साथ ही एडमिरलटी न्यायालय के स्थान पर मेयर की न्यायपालिका स्थापित की जो असैनिक वाद पर निर्णय देते थे। अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ तक मद्रास में चार प्रकार के न्यायालय, मेयर एडमिरलटी, गवर्नर के न्यायालय प्रमुख रूप से थे। 1726 में जार्ज प्रथम ने तीनों प्रेसीडेन्सी नगरों कलकत्ता, बम्बई, मद्रास के लिए समान न्यायालयों की व्यवस्था की।

सन् 1772 में न्यायिक व्यवस्था में परिवर्तन कर फौजदारी और दीवानी अदालतों की स्थापना की गई। इसके उपरान्त विभिन्न गर्वनर जनरल सर जान शोर, लार्ड वेलेजली, लार्ड कार्नवालिस, लार्डमिन्टो, लार्ड हेस्टिग्स, एवं लार्ड विलियम बैंटिक ने न्याय व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किये। लार्ड कार्नवालिस ने न्यायिक व्यवस्था को सरल कम खर्चीला बनाने का प्रयास किया। सन् 1787,1790 एवं 1793 के अनुसार राजस्व व न्यायिक कार्यों के लिए एक ही न्यायालय, संरचना जनपदीय स्तर पर कलेक्टर को प्रमुख न्यायाधीश बनाया गया। सर्किट कोर्ट की स्थापना भी कार्नवालिस द्वारा की गई जो 1935 के अधिनियम द्वारा संघात्मक व्यवस्था की स्थापना तक चलते रहे। सन् 1937 में एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गई जो स्वातत्रयोत्तर सर्वोच्च न्यायालय के रूप में परिणित हुआ। संघीय न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय न्यायापालिका को प्राथमिक, अपीलीय और परामर्श सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। सन् 1949 में प्रिवी कौसिल, अधिकार क्षेत्र अधिनियम द्वारा संघीय न्यायपालिका का स्वरूप सर्वोच्च न्यायपालिका का हो गया।

जनपद स्तर पर राज्स्व और न्याय की शक्तियां जिलाधीश और ग्रामीण स्तर पर न्याय की व्यव्स्था न्याय पंचायत में केन्द्रित रही। पंचायतें अपने प्राचीन स्वरूप में नही रही, तथापि परम्परागत रूप से स्थानीय विवादों को निबटाने के दृष्टिकोण से ये प्रभावी बनी रही। समान्तर प्रक्रिया के रूप में परगना और जनपदीय स्तर पर स्थित न्यायपालिका में भी जनसाधारण न्याय प्राप्त कर सकता था, यद्यपि उनके अधिकार क्षेत्र भिन्न थे। ब्रिटिश काल में विभिन्न कारणों यथा फौजदारी न्यायलयों का विस्तार, संचार के माध्यमों में वृद्धि, शिक्षा का प्रसार नये कानून नयी शासन प्रणाली, पुलिस संस्था आदि के कारण प्रभावी लोगों का गॉव से कस्बों की ओर पलायन बढ़ा, फलतः न्याय पंचायतों का पतन हुआ। पंचायत से ऊपर की अदालत मुंसिफ की अदालत होती थी, तत्पश्चात रजिस्ट्रार की। यह न्यायधीश यूरोपियन होता था। इन दोनों न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील नगर अदालतों में की जाती थी। मुंसिफ के निर्णय के विरूद्ध जिला दीवानी अदालत में अपील की जा सकती थी। ब्रिटिश न्यायालय और वकीलों की संस्थाओं ने न्याय को बहुत मंहगा बना दिया, यह संस्थाये परम्परागत न्याय पंचायत और उससे उच्च स्तर के न्यायालयों के लिए घातक सिद्ध हुई। लोगों को वकील, न्यायालयों और कानून के हवाले कर दिया गया। ब्रिटिश प्रशासन ने धीरे–धीरे ग्रामीण संस्थाओं के महत्व को महसूस किया। इसे पुनः नये स्वरूप में स्थापित करने के प्रयास किये गये।

सन 1870 में जार्ड मेयों ने निम्नस्तर के न्यायालयों की आवश्यकता को महसूस किया। सन 1882 में लार्ड रिपन ने समस्या के समाधान के लिए कुछ अधिनियम पारित किये। जिन्हें माइलास्टोन आन दि रोड आफ इन्डियन सेल्फ

गर्वन्मेन्ट कह परिभाषित किया गया। इस दिशा में सन 1889 का सेनेटरी कमेटी एक्ट, दि युनाइटेड प्रोबिन्सस विलेज कोर्ट एक्ट 1892 प्रमुख थे जिन्होने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि गॉवों का न्याय प्रशासन गॉवों के पास होना चाहिए। प्रत्येक गांव में ग्रामीण न्यायलय होने चाहिए, बहुत साधारण मुकदमें इन न्यायालयों के द्वारा निर्णित होने चाहिए। लेकिन यह अधिनियम लक्ष्य प्राप्ति में सफल नही रहा।

सन 1907–8 में स्थानीय स्वशासन हेतु रायल कमीशन के द्वारा विकेन्द्रित प्रशासन की योजना बनायी गयी, इसकी संस्तुति में ग्रामीण स्तर पर दीवानी एवं फौजदारी के वादों की सुनवाई की व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की गई। 28 अप्रैल 1915 को भारत सरकार ने रायल कमीशन के विचार को स्वीकृति दी लेकिन अंग्रेज उस समय प्रथम विश्व युद्ध में निबद्ध थे, अतः कियान्वयन नही हो सका। मान्टेस्क्यू ने सन 1918 में अपनी रिपोर्ट में स्थानीय संस्थाओं को पूर्ण नियन्त्रण में लेने का सुझाव दिया। ग्रामीण पंचायतों का स्थानीय परिवेश के अनुकूल गठन और दीवानी और फौजदारी के छोटे–छोटे मुकदमों की सुनवाई का अधिकार देने की संस्तुत की गई। संयुक्त प्रान्त विधान परिषद ने सन 1920 में जनपदों के कुछ चुने हुए गांवों में न्यायपंचायत की स्थापना की गई। इस पंचायतों में 5 से 7 पंच होते थे जो गांव के निवासियों द्वारा निर्वाचित होते थे। कलक्टर उनमें से दो पंच चुनता था जो साक्षर हो। बहुमत का निर्णय सही माना जाता था। न्याय पंचायत के इतिहास में 1920 का अधिनियम अत्यन्त महत्वपूर्ण है, लेकिन इसकी कुछ सीमाए थी, प्रथमतः न्याय पंचायत के समक्ष जो अपील आती थी उनका क्षेत्र सीमित था द्वितीय पचायतें परीक्षण के आधार पर ही गांवों में स्थापित की गयी थी तथा नौकरशाही के नियन्त्रण में थी। सन 1920 से 1935 का समय अत्यधिक राजनीतिक अवसाद और प्रखर राष्ट्रीय जागृति का काल था।

1937 में काग्रेस पार्टी के सत्ता में आने के उपरन्त गोविन्द बल्लभ पन्त ने आत्माराम गोविन्द खरे की अध्यक्षता में संयुक्त प्रान्त में स्वायत्त शासन की संरचना के अध्ययन हेतु एक समिति गठित की। समिति ने पंचायतों को दैनिक प्रशासन को संचालित करने के अधिकार प्रदान करने के साथ इस कार्य में स्थानीय जनसाधारण के सहयोग की भी संस्तुति की गई। लेकिन 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध में सरकार के रत होने के कारण इस समिति की रिपोर्ट पर ध्यान नही दिया गया। 1946 में कांग्रेस के पुनः सत्ता में आने के पश्चात, इस दिशा में पुनः प्रयास किया गया और उत्तर प्रदेश पंचायत राज एक्ट 1946, 10 सितम्बर 1947 को विधान सभा से पारित हुआ। संविधान के अनुच्छेद 40 में भी प्रावधान किया गया कि राज्य सरकार का कर्त्तव्य है कि वह न्याय पंचायत स्थापित करें।

उपरोक्त से यह स्पष्ट है कि उपनिवेश काल में त्वरित और सरल न्यायिक प्रक्रिया सम्भव नही रही, क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने न्याय व्यवस्था को केन्द्रित, जटिल और खर्चीली बनाने का प्रयास किया, जिससे वह जननो–मुखी न रहकर अभिजात्य न्यायिक प्रक्रिया बन गई।

उपरोक्त परिप्रेक्ष्य में यह ज्ञापित होता है कि न्याय व्यवस्था समाजिक मूल्यों, मान्यताओं, मनीषियों की व्याख्याओ, टीकाओं, जनसाधारण की अपेक्षाओं तथा आकाक्षाओं तथा सुरक्षा के संदर्भ में राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्राचीन काल से लेकर स्वतंत्रता पूर्व तक विधमान रही है। वर्तमान में हमें भूतकाल से सीखते हुए वर्तमान न्याय व्यवस्था को,सामाजिक मूल्यों मान्यताओं, लोकतांत्रिक संस्कृति के अनुकूल अपनी न्याय व्यवस्था को नियोजित करने की आवश्यकता है, जिससे कि न्याय प्राक्रिया को सुगम, सरल, त्वरित, विश्वसनीय, बनाने जा सके, ताकि प्रत्येक नागरिक स्वयं को संरक्षित और सुरक्षित अनुभव कर सकें।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. **ए. एस. अलटेकर** : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2013
2. **गोपीनाथ शर्मा**: मध्य कालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन इन सोशल साइसेज जयपुर 1972
3. **आर्शीवादीलाल श्रीवास्तव**: मुगल कालीन भारत, शिवालाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा 1990
4. **बी0डी0 कुलश्रेष्ठ**: लैण्डमार्क्स इन इण्डियन लीगल एण्ड कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री, ईस्टर्न बुक, लखनऊ 1977
5. **डा0 आर0 कुशवाह** : वर्किंग आफ न्याय पंचायत इन इण्डिया, एशिया पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 1977